



महिलाओं के विरुद्ध होने वाले अपराधों के में 'न्याय' का संकट

सत्यम तिवारी

वरिष्ठ शोध अध्येता, राजनीति विज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश, भारत।

प्रस्तावना

प्रसिद्ध अर्थशास्त्री अमर्त्यसेन के अनुसार "लोकतन्त्र की सफलता अपनी समझ की श्रेष्ठतम संस्थाओं के निर्माणमात्र से सुनिश्चित नहीं हो जाती। यह तो हमारे वास्तविक व्यवहार और राजनीतिक सामाजिक वास्तविकता पर भी निर्भर करती है। इसे संस्थागत सदभाव (Institutional virtuosity) के सुरक्षित हाथों में छोड़ पाना सम्भव नहीं है। अन्य सभी संस्थाओं की भाँति ही लोकतान्त्रिक संस्थाओं की कार्यप्रणाली भी मानवीय कर्ताओं की उचित सम्प्राप्ति हेतु उचित अवसरों का प्रयोग करने के निमित्त गतिविधियों पर भी आधारित रहती है।", अमर्त्यसेन के विचार आदर्श एवं व्यवहार में अन्तर के एक पक्ष को स्पष्ट करते हैं। कम शब्दों में कहा जाय तो मात्र "संस्थागत सदभाव" (Institutional virtuosity) स्वयं में बिना "व्यक्तिगत सदभाव" (Individual virtuosity) के पर्याप्त नहीं है। इसप्रकार अच्छे से अच्छे कानून भी "व्यक्तिगत सदभाव" के अभाव में प्रभावी नहीं हो सकते हैं।

महिलाओं के प्रति अपराध के मामले दिन-प्रतिदिन बढ़ रहे हैं। पहले की तुलना में अधिक महिलाएँ आवाज उठा रही हैं तब भी इन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ रहा है। यद्यपि यह संख्या अभी कम है; परन्तु आशावर्धक अवश्य है। क्योंकि एक महिला के लिए न्याय की प्रक्रिया विशेष रूप से जटिल है, विशेष रूप से उन महिलाओं के लिए; जिनके परिजन स्वयं उनके विरुद्ध अपराधी हैं। मोटे तौर पर यदि हम महिलाओं की न्यायव्यवस्था तक पहुँच अथवा "न्याय" प्राप्त करने की प्रक्रिया की बात करें तो स्पष्ट होता है कि पीडिता को एक कठोर, असंवेदनशील, खर्चीली व थका देने वाली प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है। लेखिका के मतानुसार न्याय तक महिलाओं की सीमित पहुँच के दो कारण हो सकते हैं। -

(i) महिलाओं का समानता की माँग करने में "सक्षम" न होना

यहाँ पर अमर्त्यसेन का "क्षमता दृष्टिकोण" महत्वपूर्ण प्रतीत होता है; जो अवसर को "क्षमता" के अर्थों में परिभाषित करता है। स्पष्ट रूप से "क्षमताएँ" जो कि अवसरों का लाभ उठाने के लिए आवश्यक हैं; महिलाओं में वांछनीय स्तर की नहीं हैं। प्राचीन काल से ही महिलाओं को भेद-भावपूर्वक शिक्षा, पोषण आदि से वंचित रखा गया है; जिसने उनके आत्मविश्वास पर नकारात्मक प्रभाव डाला है। शिक्षा का स्तर कम होने के कारण उनमें जागरूकता का अभाव है। परिणामतः महिलाएँ अपने अधिकारों से अनभिज्ञ हैं।

यद्यपि कुछ शोध यह भी मानते हैं कि शिक्षा के स्तर का महिलाओं की जागरूकता पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है। इसके अतिरिक्त आर्थिक विषमता भी बड़ी बाधा है; जिस कारण महिलाएँ अपने साथ हुए अपराधों को चुपचाप सह लेती हैं; विशेषकर तब और जब अपराधी उनके परिवारीजन हों; क्योंकि उन्हें भय होता है कि उन्हें घर से निकाल दिया जायेगा। अतः इन्हीं कारणों से वे मौन

रहती हैं एवं विदारक तथा अतीव मानसिक, शारीरिक पीडा का शिकार होते हुए भी आवाज नहीं उठा पाती हैं।

(ii) संस्थागत समस्याएँ

सर्वप्रथम तो लोकलाज एवं बदनामी का भय ही प्रायः किसी भी महिला को अपराध सम्बन्धी प्राथमिकी अंकित कराने में हतोत्साहित करता है। हमारे समाज में प्रायः पुलिस एवं अदालतों को नकारात्मक अर्थों में लिया जाता है। विशेषकर किसी महिला के लिए तो इस समाजिक विचारधारा को चुनौती देकर पुलिस की सहायता लेना अत्यन्त कठिन होता है।

पुलिस जो कि; स्वयं पितृसत्तात्मक विचारधारा से ग्रस्त होती है; वह प्रायः मामले को गम्भीरता से नहीं लेती। विशेषकर घरेलू हिंसा, वैवाहिक बलात्कार, छेड़-छाड़ जैसे मामलों में याची को पुलिस द्वारा केस दर्ज न कराने की ही सलाह दी जाती है। यौनहिंसा के अपराधों में तो प्रायः पीडिता के चरित्र तथा बर्ताव पर ही प्रश्नचिन्ह लगा दिये जाते हैं। घरेलूहिंसा को प्रायः प्राकृतिक सिद्ध करने की प्रवृत्ति पुलिस में देखी गयी है। यौन अपराधों के सम्बन्ध में पुरुषवादी सोच से ग्रस्त पुलिस प्रायः महिला का चिकित्सीय परीक्षण कराने में देरी कर देती है।

एक बार प्राथमिकी अंकित हो जाने के बाद पीडिता का स्तर मात्र गवाह का रह जाता है। जहाँ पुलिस से स्वतन्त्र एवं पूर्वग्रहरहित होकर जाँच करने तथा साक्ष्यसंकलन की आशा की जाती है; वहाँ पुलिस प्रायः महिलासम्बन्धी मामलों में ढीली एवं अनुत्तरदायित्वपूर्ण जाँच करती है। वैसे भी प्रायः पुरुषवादी धारणा जो कि स्त्री के प्रति हुए अपराध के लिए स्त्री को ही उत्तरदायी मानती है; से ग्रस्त पुलिस से अधिक अपेक्षा नहीं की जा सकती है। लम्बी व सुस्त जाँच प्रक्रिया के बाद ही मामलों में चार्जशीट प्रस्तुत की जा पाती है।

क्योंकि महिलाओं के प्रति अपराध समाज के प्रति अपराध माने जाते हैं; अतः चार्जशीट दाखिल होने के बाद महिला का केस सरकारी वकील द्वारा लड़ा जाता है; जो प्रायः अन्य मामलों में भी सक्रिय रहता है; पूर्ण मनोयोग से केस की पैरवी नहीं कर पाता है। वह भी महिला सम्बन्धी मामलों को गम्भीरता से नहीं लेता है। यद्यपि पीडिता अपनी पसन्द के वकील से सलाह ले सकती है; पर केस सरकारी वकील द्वारा ही लड़ा जाता है; जो स्वयं भी समाज में व्याप्त पितृसत्तात्मक विचारधारा से ही प्रभावित होता है।

इसके अतिरिक्त न्यायालय का वातावरण भी महिला के लिए लगभग असहयोगी होता है। यौन उत्पीडन एवं बलात्कार जैसे प्रकरणों में तो बचावपक्ष द्वारा किये गये तीखे हमलों द्वारा सर्वप्रथम तो महिला के चारित्रिक हनन का ही पूरा प्रयास किया जाता है। प्रायः पीडिता से अनावश्यक रूप से निजी प्रश्न पूँछकर उसके आत्मविश्वास को बुरी तरह से तोड़ने की कोशिश की जाती है।

इसके अतिरिक्त आरोपी जो प्रायः पुरुष होता है; साथ ही अपेक्षाकृत बेहतर आर्थिक स्थिति का भी होता है; प्रायः सुबूतों को मिटाने अथवा गवाहों को खरीदने की पूरी कोशिश करता है। व्यवस्था में व्याप्त कमियों एवं कमजोरियों तथा विभिन्न सामाजिक कारणों से वह प्रायः सफल भी रहता है।

प्रायः न्यायालयों में लम्बित वादों की संख्या अधिक होने के कारण वादों के निस्तारण में वर्षों का समय लग जाता है। बचावपक्ष प्रायः येन-केन प्रकारेण तरीखें बढवाकर केस को कमजोर करने का पूरा प्रयास करता है। न्यायालय तारीखें देते जाते हैं; एवं समय के साथ पीडित महिला के मन में न्याय की आशा धुँधली होती जाती है; वह थकती जाती है एवं अधिकांश में अपराधी छूट जाते हैं। अब यदि पुनः इस आलोक में छण्ण्ण्ण्ण के आँकड़ों को देखें तो स्थिति पर्याप्त स्पष्ट हो जाती है। दोषसिद्धि का न्यून प्रतिशत स्वयमेव न्यायव्यवस्था की वास्तविकता स्पष्ट कर देता है। इसके अतिरिक्त प्राथमिकी अंकित कराने से लेकर न्यायालय तक की यात्रा वास्तव में एक महिला के लिए अत्यन्त पीडाजनक होती है।

वर्तमान न्याय की प्रक्रिया, न्यायिक प्रक्रिया में अनुचित देरी, विकृतचिकित्सीय रिपोर्ट, अपर्याप्त जाँच, सबूतों के अगम्भीर एकत्रीकरण एवं केस को सनसनीखेंज बनाने के कारण दागदार हो चुकी है। साथ ही समाज में व्याप्त दकियानूसी एवं स्त्रीविरोधी सोच भी महिलाओं में “न्याय” दमतोडती आशा हेतु उत्तरदायी हैं। सम्पूर्ण परिदृश्य का समग्र अध्ययन करने पर कहीं भी स्थिति सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती है। समस्या का प्रत्येक पक्ष यह दिखाता है कि व्यापक स्तर पर सुधारों की आवश्यकता है; चाहे वह महिलाओं की “क्षमता” का विषय हो; अथवा न्यायिक प्रक्रिया का विषय हो; अथवा समाज में व्याप्त दकियानूसी सोच का ही क्यों न हो।

संवैधानिक आदर्शों का वास्तविक धरातल पर क्रियान्वयन सुनिश्चित करने के लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि महिलाओं में “क्षमता” निर्माण पर विशेष ध्यान दिया जाय। महिलाओं के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, तथा रोजगार के पर्याप्त अवसर सुनिश्चित किये जायें। अत्याचार के विरुद्ध सार्थक लडाई के लिये यह आवश्यक है कि महिला आर्थिक रूप से सक्षम हो। इसके अतिरिक्त महिलाओं में जागरूकता लाने के प्रयास किये जाने चाहिए; जिससे उनके हित में निर्मित कानून मात्र कागजी शेर ही न रह जायें।

जहाँ तक न्यायिक प्रक्रिया का प्रश्न है; वहाँ भी व्यापक स्तर पर सुधार की आवश्यकता है। सभी संस्थाओं में लैंगिकसंवेदनशीलता का स्तर निम्न है। पुलिस के रवैये में व्यापक सुधार की आवश्यकता है। समय के साथ नये कानूनों का निर्माण एवं सुधार भी आवश्यक है; साथ ही न्यायप्रक्रिया को भी इसप्रकार त्वरित एवं सुगम बनाना होगा; जिससे कि अपने अधिकारों का पीछा करते – करते किसी स्त्री का जीवन ही न बीत जाय एवं उच्चतम न्यायालय पहुँचकर न्याय खरीदते-खरीदते स्वयं को ही न बेंच देना पड़े।

न्याय की सम्पूर्ण प्रक्रिया भी अन्ततः तो मानवीय अभिकर्ताओं द्वारा ही संचालित होती है। जब व्यवस्था के संचालक ही स्त्री के विरुद्ध पूर्वग्रहग्रस्त हों तो मात्र संस्थाओं के भरोसे किसी सार्थक परिणाम की आशा नहीं की जा सकती है। न्यायव्यवस्था भी वस्तुतः समाजिक व्यवस्था का ही अंग होती है; एवं उससे प्रभावित भी होती है। किसी भी सुधार की पृष्ठभूमि यहीं से निर्मित होती है। सभ्यसमाज यहाँ पर महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन कर सकता है। हम सब को महिलाओं एवं उनके प्रति होने वाले अपराधों को लेकर संवेदनशील होने की आवश्यकता है। अन्ततः तो पुलिस, सरकारी वकील, गवाह, सभी इसी समाज के अंग हैं। जब तक संविधान की मूल भावना का हम सब के द्वारा वास्तविक रूप से आत्मसात्करण

नहीं होगा; तब तक यह समस्या आमूलतः समाप्त नहीं होगी। डॉ० राजेन्द्र प्रसाद के अनुसार—

“संविधान कैसा भी हो, देश का कल्याण इस बात पर निर्भर करता है कि उसे कैसे चलाया जाता है। यह उन व्यक्तियों पर निर्भर करेगा जो इसे चलाते हैं। यदि निर्वाचित व्यक्ति सक्षम है, तथा चरित्रवान एवं सदगुणी हैं; तो वे बुरे संविधान को भी अच्छा बना देंगे। यदि उनमें इन गुणों की कमी है तो संविधान देश की सहायता नहीं कर सकता।” यहाँ पर “संविधान को चलाने वाले” की व्याख्या वृहद अर्थों में की जानी चाहिए। संविधान के सफल संचालन के लिए देश का प्रत्येक नागरिक उत्तरदायी है। संविधान के आदर्श तब तक वास्तविकता से दूर रहेंगे जब तक हम संविधान के सिद्धान्तों को आत्मसात् नहीं करेंगे। इस सम्बन्ध में अरस्तू आज भी प्रासंगिक हैं – “संविधानों की स्थिरता सुनिश्चित करने के लिए सभी साधनों में से श्रेष्ठतर साधन जिसकी प्रायः उपेक्षा की जाती है; वह है – इसके नागरिकों को संविधान की आत्मा के अनुरूप शिक्षित करना।”

संदर्भ

1. Amartya Sen. The Idea of Justice, Harvard University Press, 2011.
2. Amartya Sen, Human Rights and Capabilities, journal of Human Development, 2005; 6(2):151-166, DoI: 10.1080/1464988050012049
3. Devendra Kiran. Changing Status of Women in India. New Delhi: Vikas Publishing House, 1994.
4. Menon Nivedita. Gender and Politics in India. Oxford: Oxford University Press, 1999.
5. Menon Nivedita. Gender. In Bhargava, Rajeev and Acharya, Ashok (Eds.), Political Theory: An Introduction, (pp. 225-232). New Delhi: Pearson, 2008.
6. Neera Desai, Usha Thakkar. Women in Indian Society, National Book Trust, 2001.
7. Constitutional Assembly Debates, vol. xi.
8. Aristotle, Politics, ed. R.F. Stalley, tran. Earnest Barker, 1998, Oxford.